



महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में नारी अस्मिता के महत्व का एक अध्ययन

डा० विपिन चन्द्र (असिस्टेंट प्रोफेसर)

विषय हिन्दी

हुकुम सिंह वोरा राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय सोमेश्वर

सारांश, स्त्री विमर्श उस साहित्यिक आंदोलन को कहा जाता है जिसमें स्त्री अस्मिता को केंद्र में रखकर संगठित रूप से स्त्री साहित्य की रचना की गई। हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श अन्य अस्मितामूलक विमर्शों के भांति ही मुख्य विमर्श रहा है जो की लिंग विमर्श पर आधारित है। स्त्री विमर्श को अंग्रेजी में फेमिनिज्म कहा गया है। शुरुआत में हिंदी में इसके लिए नारीवाद या मातृसत्तात्मक शब्द प्रचलन में रहा है। नारीवादी सिद्धांतों का उद्देश्य लैंगिक असमानता की प्रकृति एवं कारणों को समझना तथा इसके फलस्वरूप पैदा होने वाले लैंगिक भेदभाव की राजनीति और शक्ति संतुलन के सिद्धांतों पर इसके असर की व्याख्या करना है। स्त्री विमर्श संबंधी राजनैतिक प्रचारों का जोर प्रजनन संबंधी अधिकार, घरेलू हिंसा, मातृत्व अवकाश, समान वेतन संबंधी अधिकार, यौन उत्पीड़न, भेदभाव एवं यौन हिंसा पर रहता है। स्त्रीवादी विमर्श संबंधी आदर्श का मूल कथ्य यही रहता है कि कानूनी अधिकारों का आधार लिंग न बने। आधुनिक स्त्रीवादी विमर्श की मुख्य आलोचना हमेशा से यही रही है कि इसके सिद्धांत एवं दर्शन मुख्य रूप से पश्चिमी मूल्यों एवं दर्शन पर आधारित रहे हैं। हालांकि जमीनी स्तर पर स्त्रीवादी विमर्श हर देश एवं भौगोलिक सीमाओं में अपने स्तर पर सक्रिय रहती हैं और हर क्षेत्र के स्त्रीवादी विमर्श की अपनी खास समस्याएँ होती हैं। नारीवाद राजनीतिक आंदोलन का एक सामाजिक सिद्धांत है जो स्त्रियों के अनुभवों से जनित है। हालांकि मूल रूप से यह सामाजिक संबंधों से अनुप्रेरित है लेकिन कई स्त्रीवादी विद्वान का मुख्य जोर लैंगिक असमानता और औरतों की अधिकार इत्यादि पर ज्यादा बल देते हैं। नारी-विमर्श का प्रारंभ कब हुआ, इसके संबंध में विद्वानों में सुनिश्चित एकमतता नहीं है। कुछ लोगों के अनुसार इसका प्रारंभ उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ, जब पश्चिम में स्त्रियों के मताधिकार और पाश्चात्य संस्कृति में स्त्रियों के योगदान पर चर्चा होने लगी थी। लेकिन वास्तविकता यह है कि स्त्री-विमर्श बीसवीं शताब्दी की देन है।

मुख्य शब्द, नारी-विमर्श, स्त्रीवादी, प्रजनन संबंधी अधिकार, घरेलू हिंसा, मातृत्व अवकाश, समान वेतन संबंधी अधिकार आदि।

प्रस्तावना, 19वीं सदी में काल्पनिक समाजवादी चिंतक चार्ल्स फूरिए ने प्रथम बार फ्रेंच शब्द, फ़ैमिनिज्म 'का प्रयोग किया जिसे आरंभ में काया के भीतर स्त्री गुणों की उपस्थिति अथवा स्त्री के पुरुषोचित व्यवहार के संदर्भ में प्रयोग किया जाता रहा। 1792 में प्रकाशित हुई 'मेरी वोल्स्टोनक्राफ्ट' की रचना 'विंडिकेशन ऑफ द राइट ऑफ वूमेन' का नारीवादी आंदोलन

को आधुनिक रूप देने में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। वैश्विक रूप से नारीवादी आंदोलन की प्रथम लहर 1850 से 1920 के मध्य स्वीकार की जाती रही है। इस दौरान मताधिकार, समान वेतन, समान शिक्षा, उच्च शिक्षा, उद्योग संपत्ति पर कानूनी अधिकार, निजी एवं सार्वजनिक दायरों में पितृसत्ता के वर्चस्व को चुनौती, जीवन निर्वाह में स्वतंत्र निर्णय एवं वैयक्तिक विचारों की स्वतंत्रता, पत्नी प्रताड़ना, स्त्री संबंधित हिंसा, शोषण आदि को प्रमुखता से स्थान मिला। इस प्रथम दौर में औद्योगीकरण से उपजे व्यापक सामाजिक आर्थिक परिवर्तनों से नारीवाद को प्रेरणा मिली। जॉन स्टूअर्ट मिला नारीवादी आंदोलन के प्रबल समर्थक बनकर उभरे एवं 1867 में इस अंग्रेजी राजनीतिक चिंतक और दार्शनिक ने ब्रिटिश संसद में स्त्री के वयस्क मताधिकार के लिए प्रस्ताव भी रखा। उन्नीसवीं सदी के नारीवादी आंदोलन का ही प्रतिफल था की यूएसए की संसद ने 1919 में ब्रिटेन में 1927 में तथा फ्रांस में 1944 में महिलाओं को मताधिकार प्रथम बार प्राप्त हो सका। सीमोन द बोउआर जो एक फ्रेंच लेखिका और दार्शनिक रही हैं उनकी 1919 में प्रकाशित पुस्तक 'द सेकंड सेक्स' का हिंदी अनुवाद हिंदी उपन्यासकार प्रभा खेतान जी ने 'स्त्री उपेक्षिता' शीर्षक से प्रकाशित किया है। उनके निजी जीवन पर आधारित उपन्यास में उन्होंने स्त्री मुक्ति की चेतना, चुनने की आजादी, लैंगिक आधार एवं सांस्कृतिक मान्यताओं के आधार पर निर्मित पूर्वाग्रहों एवं ऐसी धारणाओं पर करारा प्रहार किया है।

इसे विश्वव्यापी आंदोलन का स्वरूप देते हुए इस पुस्तक में वे कहती हैं कि "औरत पैदा नहीं होती है बल्कि समाज औरत गढ़ता है।" सिमोन ने 'द सेकंड सेक्स' में मानव शास्त्र, दर्शन शास्त्र, मनोविज्ञान, इतिहास आदि के गहन अध्ययन के उपरांत यह स्वीकार किया है कि स्त्रियों का शोषण नैसर्गिक न होकर देश-काल के इतिहास एवं संस्कृति की देन है। वास्तविक अर्थों में नारीवादी आंदोलन की शुरुआत सीमोन द बोउआर की पुस्तक 'द सेकंड सेक्स' तथा बाद में बेट्टी फ्रीडन की 1963 में प्रकाशित 'द फेमिनिक मिस्टीक' से ही मानी जाती है। चार-पांच दशकों की शून्यता के उपरांत नारीवाद की 'दूसरी लहर' या दूसरा दौर साठ के दशक के दौरान प्रकाश में आया एवं द्वितीय विश्व युद्धोपरांत आर्थिक, औद्योगिक, सामाजिक, शैक्षणिक, एवं तकनीकी क्रांति ने महिलाओं को सार्वजनिक क्षेत्रों में स्थान दिया तथा उन्हें आर्थिक सामाजिक शक्ति बनने के लिए उर्वर पृष्ठभूमि भी प्रदान की। स्त्री अब पुरुष के समक्ष प्रतिस्पर्धी ही नहीं वरन प्रतिद्वंद्वी बनकर उभरी तथा अनेक आयामों पर पुरुष के लिए चुनौती बनकर खड़ी हुई।

भारतीय दलित साहित्य में 'आत्मकथा' लेखन का इतिहास अधिक पुराना नहीं है। यह विशुद्ध रूप से आधुनिक युग की देन है। दलित साहित्य में तो यह और भी नया है दलित आत्मकथा मात्र लेखक की आत्मकथा नहीं होती, अपितु कहीं-न-कहीं वह समस्त दलित समाज की आत्मकथा होती है। जिसमें आत्मकथाकार द्वारा भोगी हुयी यातना, अभाव, अपमान और संघर्ष का चित्रण तो होता है, किन्तु दलित समाज के सभी लोग किसी-न-किसी स्तर पर कम या ज्यादा इस जातीय अपमान, घृणा, उपेक्षा और वंचना के शिकार होते हैं। इसीलिए दलित आत्मकथाकार के जीवन का यथार्थ समस्त दलित समाज का सच होता है। जयप्रकाश कर्दम के शब्दों में कहें तो "दलित आत्मकथाओं में दर्ज इतिहास भारतीय समाज की उस अमानवीयता और असहिष्णुता का इतिहास है, जिसका उल्लेख इतिहास ग्रंथों

में नहीं है।” आत्मकथा मूलतः आत्मपरक विधा है। व्यक्ति के अन्दर छिपा अदृश्य संसार पाठकों के समक्ष उद्घाटित होता है और इस कार्य को स्वयं लेखक सम्पन्न करता है। इसमें अनुमान या कल्पना की कोई गुंजाइश नहीं होती।

हिन्दी की आत्मकथाओं की दुनिया में मौजूद महिला आत्मकथनों को अलग से रेखांकित करने की आवश्यकता महसूस की जाती रही है। इस सन्दर्भ में डॉ. सुमन राजे अपनी पुस्तक ‘हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास’ में लिखती हैं कि, “आत्मकथा और समीक्षा का क्षेत्र भी लगभग सूना ही पड़ा है। महिलाओं की आत्मकथाओं का हिन्दी में अभाव तो अब एक मुद्दा बन गया है।” लेकिन उनकी यह शिकायत अब दूर हो गयी है, क्योंकि कई हिन्दी लेखिकाओं की आत्मकथाएँ प्रकाशित हो गयी हैं। “पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था द्वारा नारी पर ढाये जाने वाले अत्याचार, विवाह संस्था की असंगतियों, पतियों की खलनायकी भूमिका, आत्मविकास में बाधक तत्वों से संघर्ष करती, आर्थिक आत्मनिर्भरता की प्राप्ति हेतु प्रयास करती नारी आदि कुछ ऐसे मुद्दे हैं, जो सीधे नारी विमर्श से जुड़ते हैं, ऐसी आत्मकथाएँ लेखिकाओं के व्यक्तित्व को ही अभिव्यक्ति नहीं देते, अपने समकालीन जीवन की हलचलों को भी शब्दबद्ध करती है।” इन आत्मकथाओं की सबसे बड़ी सच्चाई यह है कि लेखिका बन जाने पर भी वे नारी शोषण की चक्की के पाटों से मुक्त नहीं हो पाती हैं।

आज दलित महिला लेखन का परिदृश्य अभी तक बहुत स्पष्ट नहीं है। मराठी और तेलगु साहित्य में दलित महिला लेखन अपना स्थान बना रही है किन्तु हिन्दी में एक-दो आत्मकथाओं तथा कुछक कविताओं तक ही यह लेखन सिमटा है। वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में जहाँ दलित और स्त्री दोनों प्रताड़ित हैं, दलित स्त्री का संघर्ष दोहरा-तिहरा हो जाता है। पहला जाति के कारण, दूसरा स्त्री होने के कारण और तीसरा गरीबी के कारण उनका जीवन बदहाली, अभाव शोषण व अत्याचार की चक्की में पिस जाता है। विमल थोरात के अनुसार— “चौतरफा शोषण की शिकार दलित स्त्री को न्याय मिलने की रत्ती भर आशा इस हिन्दू समाज व्यवस्था ने नहीं छोड़ी।”

दलित पुरुषों की मानसिकता एवं ओर दलित होने के नाते शोषित प्रताड़ित की है तो पुरुष होने के नाते स्त्री से उसकी अपेक्षाएँ पारम्परिक आदर्श हिन्दू नारी की रही है। अतः दलित स्त्री एक ओर पुरुष वर्चस्व की शिकार बनी तो दूसरी ओर सवर्ण मानसिकता की। उन पर लिंग भेद और जाति भेद दोनों ही वजह से अत्याचार हुए। दलित स्त्री ने जो कुछ सहा उसकी रचनात्मक अभिव्यक्ति है ‘आत्मकथा’। दलित स्त्री के जीवन में शिक्षित होने के लिए संघर्ष, जातिगत पहचान की वजह से प्रगति के हर कदम पर आने वाली कठिनाइयों से जूझना, आर्थिक सबधता के लिए कठिन प्रयास, भूख से लड़ाई, स्त्री होने के कारण घर और बाहर होने वाली अवहेलना, अपमान और शोषण की तिहरी मार को झेलने के प्रसंगों, घटनाओं, संघर्षों का चित्रण लेखिकाओं ने प्रमुख रूप से किया है।

इसी क्षेत्र में ‘कौशल्या वैसन्त्री’ की आत्मकथा ‘दोहन अभिशाप’ के बाद डॉ. सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा ‘शिकंजे का दर्द’ नखलिस्तान की तरह दलित महिला साहित्य के सूखाग्रस्त क्षेत्र में आशांन्वित करती है। लेखिका वर्ण-व्यवस्था के अभिशाप तले पिस रहे वाल्मिकी (भंगी) समाज की पीड़ा को ही नहीं अभिव्यक्त किया है, बल्कि अपने

समाज के आंतरिक दोषों की भी विवेचना की है। 'शिकंजे का दर्द' एक दलित नारी के दारुण यातना की कहानी ही नहीं कहती बल्कि वर्ण-व्यवस्था के अमानवीय स्वरूप के रेशे रेशे से पाठकों को परिचित करती है, जिसने करोड़ों इंसानों की जिन्दगी में जहर घोल रहा है। 'शिकंजे का दर्द' किसी एक दलित स्त्री का दर्द नहीं है, बल्कि पूरी दलित स्त्री का दर्द है। दलित स्त्री की निपति-प्रकृति की कास को शुशीला टाकभौरे ने अपने ही जीवन यथार्थ के बहाने प्रस्तुत किया है। यह कुछ आप बोती है तो, कुछ आगबीती भी।

इस सन्दर्भ में मोहनदास नैमिशराय के विचार महत्वपूर्ण हैं कि "दलित आत्मकथाकार की एकांगी दृष्टि नहीं होती, क्योंकि जब वह लिखते हैं या सोचते हैं तो समूचे दलित समाज की दृष्टि, उसका मान-अपमान, उसका सवाल, जद्दोजहद एक लेखक के सामने होते हैं। इसीलिए दलित आत्मकथाएँ एक व्यक्ति के जीवन पर आधारित नहीं होती। उसमें संपूर्ण दलित समाज होता है।" इस आत्मकथा में दलित जीवन का सम्पूर्ण दरिद्रता अशिक्षा और अज्ञानता, अन्धविश्वास, शोषण, अंधतिरस्कार के साथ दलित स्त्री के संघर्ष की गाथा है।

नारीवादी आंदोलनकारियों में फ्रीडन, बोउआर, केट मिलेट, फायरस्टोन आदि ने इस बात पर विशेष बल दिया कि कोई भी कलाकृति या रचना लिंग-राजनीति, लिंग-भेद के अंतर्विरोध से निरपेक्ष नहीं हो सकती है। महादेवी वर्मा समाज में स्त्री के प्रभुत्व एवं उनके उपयोगिता के संदर्भ में लिखती हैं- "हमें न किसी पर जय चाहिए न किसी से पराजय, न किसी पर प्रभुता चाहिए न प्रभुत्व, केवल अपना वह स्थान, वह स्वत्व चाहिए जिनका पुरुषों के निकट कोई उपयोग नहीं है, परंतु जिनके बिना हम समाज का उपयोगी अंग नहीं बन पा रही हैं।" स्त्री को बाजार ने इन्वेस्टर से लेकर उपभोक्ता तक और वस्तु से लेकर मनोरंजन के साधन तक बना दिया। बाजार ने स्त्री को सौंदर्य के नाम पर विभिन्न ब्यूटी प्रॉडक्ट आदि दिये किन्तु उसे हकीकत में जो चाहिए था वह हमेशा उससे छिनता ही रहा है।

इसी दौर में काफी बड़ी संख्या में लेखिकाओं की भी आमद हुई। जिनमें कृष्णा सोबती, उषा प्रियवंदा, चित्रा मुद्गल, मैत्रेयी पुष्पा, नासिरा शर्मा, प्रभा खेतान, गीतांजलि श्री, जयंती, मनीषा कुलश्रेष्ठ, ममता कालिया, कात्यायनी कृष्णा अभितोली अनामिका आदि शामिल हैं। इनमें ममता कालिया का उपन्यास 'बेघर' कृष्णा सोबती का उपन्यास 'सूरजमुखी अंधेरे के' उषा प्रियवंदा का 'पचपन खंबे लाल दीवारें', 'रुकोगी नहीं राधिका' प्रभा खेतान का 'पीली आंधी', मैत्रेयी पुष्पा का 'अल्मा कबूतरी', 'चाक', नासिरा शर्मा का 'शाल्मली', मंजुल भगत का उपन्यास 'अनारो', मन्नू भंडारी का 'आपका बंटी', अनामिका का 'दस द्वारे का पिंजड़ा' इत्यादि प्रमुख हैं, जिनमें स्त्री स्वर काफी मुखर है। कमोवेश सभी में कहीं न कहीं भोगा गया यथार्थ भी झलक ही जाता है जो एक पुरुष रचनाकार के रचाव में संभव नहीं। दोनों की सहमतियों और असहमतियों में भी फर्क है। समानता यह है कि दोनों के वहां स्त्री के लिए संवेदनाएं हैं, एहसासात हैं। स्त्री का सपना कल भी अपनी एक मुकम्मल पहचान बनाने का था, आज भी वही है। भले ही स्त्री एक बड़े संघर्ष से गुजरी और अपने लिए कुछ अलग कर पाई है, लेकिन अभी भी उसके हिस्से में पूरा आकाश नहीं। महिला कामकाजी तो बन गई, लेकिन अपने कमाए धन पर उसका अधिकार आज भी नहीं है।

आज भी वह कोई काम तब तक नहीं कर सकती जब तक उससे जुड़े पुरुष की सहमति न हो। इन स्थितियों से ऊपर उठ पाना और इस बंधुवा – संस्कृति से निपट पाना सबसे बड़ा स्वप्न है, एक स्त्री और स्त्री कहानीकार का, मधु कांकरिया के उपन्यास 'सेज पर संस्कृति' और 'खुले गगन के लाल सितारे' में यह मर्म साफ देखा जा सकता है। यह एक बड़ा और सार्थक संकेत है स्त्री की प्रगतिशीलता और उसके स्वीकार्य का। आज स्त्री निरंतर रच रही है और अपनी अभिव्यक्तियों को नए फलक दे रही है। आज वह ऐसे विषयों को अपने लेखन का केंद्र बिंदु बना रही है जिसे कभी स्त्री के लिए सोचना भी वर्जित था। यह स्त्री की सबसे बड़ी उपलब्धि है। स्त्री कथाकारों की संख्या में वृद्धि का सबसे बड़ा कारण वर्चुअल दुनिया का आगमन है।

स्त्रियां पहले भी अपने अंदर की छटपटाहट को जुबां देना चाहती थीं, लेकिन उनके पास कोई मंच नहीं था। पत्रिकाएं सबके पास पहुंच नहीं पाती थीं और पत्रिकाओं तक वे भी नहीं पहुंच पाती थीं। लेकिन आज स्थिति दूसरी है। उनके पास कई और विकल्प हैं। वेब पत्रिकाओं और ब्लॉग उनके लिए सबसे बेहतर अभिव्यक्ति का जरिया है। और इसके सहारे वे लेखन की दुनिया और अत्यन्त प्रतिष्ठित पत्रिकाओं तक पहुंच सकी हैं। यह एक जरूरी बदलाव या कहें विकास है। यह एक क्रम है उत्तरोत्तर और आगे तक जाने का। आमतौर पर देखा गया है कि कोई भी रचनाकार अपना लेखन कविताएं रचने से शुरू करता है। आदमी के अंदर कोई कथाकार हो न हो लेकिन एक कवि हर व्यक्ति के अंतः में होता है। कई बार हम देखते हैं कि एक मामूली खेत खलिहान का आदमी भी कुछ-कुछ शब्द गढ़ के गाता रहता है। यह उसके अंदर का कवि ही है। सो लगभग हर रचनाकार अपनी शुरुआत कविताओं से करता है, फिर गद्य में उतरता है और जब कहन में एक ठोस स्थायित्व और प्रवाह आ जाता है तो उपन्यास लेखन की बुनियाद अपने आप पड़ जाती है। कभी-कभी कहानियां भी उपन्यास का रूप ले लेती हैं। कई मित्रों को कहते सुना है कि फलां कहानी लिख रहे थे और लिखने के क्रम में ही उसने उपन्यास का रूप ले लिया। अनामिका को ही ले लीजिए। वो कवयित्री भी रहीं, कहानीकार भी और उपन्यास लेखन भी पूरी रफ्तार से किया। ऐसी और भी लेखिकाएं हैं जैसे ज्योति चावला, गीताश्री, पंखुरी सिन्हा आदि। आज लेखिकाएं खूब उपन्यास लिख रही हैं। रोज नए-नए उपन्यास आ रहे हैं लेखिकाओं के। यह भी एक उपलब्धि है लेखिकाओं के लिए। लेकिन ऐसा नहीं है कि वे कहानी लेखन छोड़ चुकी हैं, बल्कि साथ-साथ वो भी बरकरार है।

स्त्री विमर्श उस साहित्यिक आंदोलन को कहा जाता है जिसमें स्त्री अस्मिता को केंद्र में रखकर संगठित रूप से स्त्री साहित्य की रचना की गई। हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श अन्य अस्मितामूलक विमर्शों के भांति ही मुख्य विमर्श रहा है जो की लिंग विमर्श पर आधारित है। स्त्री विमर्श को अंग्रेजी में फेमिनिज्म कहा गया है। शुरुआत में हिंदी में इसके लिए नारीवाद या मातृसत्तात्मक शब्द प्रचलन में रहा है। नारीवादी सिद्धांतों का उद्देश्य लैंगिक असमानता की प्रकृति एवं कारणों को समझना तथा इसके फलस्वरूप पैदा होने वाले लैंगिक भेदभाव की राजनीति और शक्ति संतुलन के

सिद्धांतों पर इसके असर की व्याख्या करना है। स्त्री विमर्श संबंधी राजनैतिक प्रचारों का जोर प्रजनन संबंधी अधिकार, घरेलू हिंसा, मातृत्व अवकाश, समान वेतन संबंधी अधिकार, यौन उत्पीड़न, भेदभाव एवं यौन हिंसा पर रहता है।

स्त्रीवादी विमर्श संबंधी आदर्श का मूल कथ्य यही रहता है कि कानूनी अधिकारों का आधार लिंग न बने। आधुनिक स्त्रीवादी विमर्श की मुख्य आलोचना हमेशा से यही रही है कि इसके सिद्धांत एवं दर्शन मुख्य रूप से पश्चिमी मूल्यों एवं दर्शन पर आधारित रहे हैं। हालांकि जमीनी स्तर पर स्त्रीवादी विमर्श हर देश एवं भौगोलिक सीमाओं में अपने स्तर पर सक्रिय रहती हैं और हर क्षेत्र के स्त्रीवादी विमर्श की अपनी खास समस्याएँ होती हैं। नारीवाद राजनीतिक आंदोलन का एक सामाजिक सिद्धांत है जो स्त्रियों के अनुभवों से जनित है। हालांकि मूल रूप से यह सामाजिक संबंधों से अनुप्रेरित है लेकिन कई स्त्रीवादी विद्वान का मुख्य जोर लैंगिक असमानता और औरतों की अधिकार इत्यादि पर ज्यादा बल देते हैं।

नारी-विमर्श का प्रारंभ कब हुआ, इसके संबंध में विद्वानों में सुनिश्चित एकमतता नहीं है। कुछ लोगों के अनुसार इसका प्रारंभ उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ, जब पश्चिम में स्त्रियों के मताधिकार और पाश्चात्य संस्कृति में स्त्रियों के योगदान पर चर्चा होने लगी थी। लेकिन वास्तविकता यह है कि स्त्री-विमर्श बीसवीं शताब्दी की देन है। बीसवीं शताब्दी में भी कुछ लोग इसका प्रारंभ फ्रांसीसी लेखक सिमोन द बुआ की पुस्तक 'द सेकंड सेक्स'(1949) के प्रकाशन-वर्ष से मानते हैं और कुछ मैरी एलमन की पुस्तक 'थिंकिंग एबाउट वीमन'(1968) के प्रकाशन – वर्ष से। लेकिन अधिकांश विद्वान इस तरह के किसी वर्ष-विशेष को स्त्री-विमर्श का प्रस्थान बिंदु मानना उचित नहीं समझते, क्योंकि बीसवीं शताब्दी में ही इससे पहले भी स्त्री की अलग पहचान, उसके स्वतंत्र अस्तित्व और उसके अधिकारों की समस्याओं को उठाया जाने लगा था। उदाहरण के लिए, वर्जीनिया वुल्फ ने अपनी पुस्तक 'ए रूम ऑफ वंस ओन'(अपना निजी कक्ष:1929) में लिखा था।

हिंदी में नारी-विमर्श ने बीसवीं शताब्दी के लगभग अंत में जोर पकड़ा है और अनेक लेखिकाएं उसमें शामिल हुई हैं। हिंदी में नारी-विमर्श की दृष्टि से कुछ महत्वपूर्ण पुस्तकें इस प्रकार हैं: बाधाओं के बावजूद नयी औरत (उषा महाजन, 2001), स्त्री-सरोकार (आशाराना व्होरा, 2002), हम सभ्य औरतें (मनीषा, 2002), स्त्रीत्व-विमर्श : समाज और साहित्य (क्षमा शर्मा, 2002), स्वागत है बेटी (विभा देवसरेय 2002), स्त्री-घोष (कुमुद शर्मा, 2002), औरत के लिए औरत (नासिरा शर्मा, 2003), खुली खिड़कियां (मैत्रेयी पुष्पा, 2003), उपनिवेश में स्त्री (प्रभा खेतान ,2003), हिंदी साहित्य का आधा इतिहास (सुमन राजे, 2003) इत्यादि। इनके अतिरिक्त हिंदी की अनेक लेखिकाएं नारीवादी होने का दावा कर रही हैं और नारीवादी साहित्य के सृजन में संलग्न हैं। प्रसिद्ध स्त्रीवादी चिंतक कवि गोलेन्द्र पटेल ने नारीवाद के संदर्भ में कहा है कि "स्त्री-दृष्टि में स्त्री-विमर्श वह मानवीय चिंतन धारा है जो स्त्री-चेतना को जागृत कर, उसकी स्वतंत्रता की वकालत करती है, इसे ही स्त्री की भाषा में नारीवाद कहते हैं।"

निष्कर्ष, इस आंदोलन के रूप में इसकी शुरुआत ब्रिटेन और अमेरिका में हुई। 18वीं शताब्दी में औद्योगिक क्रांति के दौरान कई किस्म के संघर्ष हुए। उनमें एक संघर्ष स्त्री-पक्ष ने भी किया। उन्होंने धर्मशास्त्र और कानूनों के द्वारा खुद को पुरुषों के मुकाबले शारीरिक और बौद्धिक धरातल पर कमजोर मानने से इनकार कर दिया। 1792 ई. में फ्रांसीसी क्रांति के महिला मुक्ति आंदोलन से प्रभावित होकर 1857 ई. में संयुक्त राज्य अमेरिका में महिलाओं और पुरुषों के समान वेतन को लेकर हड़ताल हुई थी। इसी दिन को बाद में अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस के रूप में मनाया गया। इसी के साथ विश्व भर में नारी मुक्ति आंदोलन की शुरुआत हो चुकी थी। 1848 ई. में कुछ प्रखर महिलाओं ने बाकायदा एक सम्मेलन करके नारी मुक्ति से संबंधित एक वैचारिक घोषणा पत्र जारी किया। इन महिलाओं में ऐलिजाबेथ कैन्डी, स्टैण्टन, लुक्रिसिया काफिनमोर प्रमुख हैं। इस सम्मेलन में यह निर्णय लिया गया कि स्त्री को सम्पूर्ण और बराबर के कानूनी हक दिए जाए। उन्हें पढ़ने के मौके, बराबर मजदूरी और वोट देने का अधिकार इत्यादि क्रान्तिकारी मांगे पारित की गयी। यह आंदोलन तेजी से सारे यूरोप में फैल गया, लेकिन असली सफलता 1920 में जाकर मिली। जब अमेरिका में स्त्रियों को वोट डालने का अधिकार मिला। 1859 ई. में पीटर्सबर्ग में अगला आंदोलन हुआ। 1908 में 'वीमेन्स फ्रीडम लीग' की स्थापना ब्रिटेन में हुई। जापान में इस आंदोलन की शुरुआत 1911 में हुई, 1936 में नोबेल पुरस्कार से सम्मानित मैडम क्यूरी सहित तीन महिलाएँ फ्रांस में पहली बार मंत्री बनीं। इस प्रकार विश्व के अनेक देशों में इस आंदोलन की शुरुआत हो चुकी थी, लेकिन 1951 में संयुक्त राष्ट्र की महासभा ने जब भारी बहुमत से महिलाओं के राजनीतिक अधिकारों का नियम पारित किया, अन्तराष्ट्रीय स्तर पर नारी मुक्ति के आन्दोलन का प्रारम्भ तभी से माना जाता है। 1975, पूरे विश्व में अन्तराष्ट्रीय महिला वर्ष के रूप में मनाया गया, जिसके परिणामस्वरूप कोपहेगन में पहला अन्तराष्ट्रीय महिला सम्मेलन, नैरोबी में दूसरा अन्तराष्ट्रीय सम्मेलन 1985 में और शंघाई में तीसरा 1995 में सम्पन्न हुआ।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- 1 शर्मा, एम. (2019). भारत में सामाजिक परिवर्तन, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, पृष्ठ 44
- 2 शर्मा, एस. (2021). नारी कभी न हारी फीनिक्स बुक इंटरनेशनल दिल्ली, पृष्ठ 456
- 3 शर्मा, एच. (2017). नारी चेतना के आयाम, अल्का प्रकाशन लोकभारती पुस्तक विक्रेता तथा वितरक, इलाहाबाद, पृष्ठ 259
- 4 शर्मा, एम. (2024). नारी: बहुरूपा, आशुतोष प्रकाशन दिल्ली, पृष्ठ 116
- 5 शर्मा, एस. (2021). महिलाएँ सामाजिक अधिकार संपा. एम.पी. चौधरी, ठाकुर एण्ड संस दिल्ली, पृष्ठ 47
- 6 शर्मा, आर. (2019). समकालीन हिन्दी साहित्य विविध विमर्श संपा वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, पृष्ठ 117
- 7 शर्मा, एस. (2022). स्त्रीत्ववादी विमर्श समाज और साहित्य, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, पृष्ठ 257
- 8 शेण्डे, एच. (2020). नारी सशक्तीकरण, सुदर्शन ग्रन्थ विकास, जयपुर, पृष्ठ 246
- 9 शेख, एस. (2021). इक्कीसवीं सदी का कथा साहित्य, संपा. डॉ. शुभम् पब्लिकेशन, कानपुर, पृष्ठ 112